International Journal of Advanced Educational Research
www.educationjournal.org
ISSN: 2455-6157
Received: 20-08-2021, Accepted: 05-09-2021, Published: 21-09-2021
Volume 6, Issue 5, 2021, Page No. 3-5

ब्रिटिश भारत की सीमान्त और विदेश नीति

शरद यादव
शोध छात्र, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
ब्रिटिश सरकार ने शासन को दृढ़ बनाने के लिये जो नीति आवासी उसके अंतर्गत इसने भारत में बकायदा प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। साथ ही उन्होंने नये जीते हुये प्रदेशों की सीमाओं को सुरक्षित रखने के लिये भी काफी प्रयास किया। इसे ही ब्रिटिश भारत की सीमान्त व विदेश नीति कहा जाता है। इसे प्रायः साम्राज्यवादी नीति का नाम भी दिया जाता है। क्योंकि दुनियाभर में ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा करने के लिये ही इस नीति का निर्माण हुआ था।
इस लेख में विभिन्न देशों के संदर्भ में ब्रिटिश भारत की विदेश नीति व उसके अंतर्गत किये गये प्रयासों का वर्णन किया गया है।

मूलशब्दः ब्रिटिश भारत, सीमान्त और विदेश नीति

प्रस्तावना
आमतौर पर माना जाता है कि भारत की विदेश नीति की शुरूआत तब हुई जब कंपनी सरकार ने देशी राज्यों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित किये। इन रियासतों को इस बात के लिये बाध्य किया गया कि वे अपने विदेश नीति संबंधी मामले कंपनी सरकार के नियंत्रण में दे दें। भारत की विदेश नीति के आरंभ की दूसरी तिथि 1818 मानी जाती है। तभी से भारत में अंग्रेजी राज्य के सुदृढ़ होने का युग आरंभ हुआ किन्तु अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भारत की विदेश नीति का समय 1858–59 माना जायेगा जब भारत के शासन का अधिकार कंपनी के हाथों से निकलकर ब्रिटेन के महारानी के हाथों में चला गया। कहा जा सकता है कि तभी से भारत की स्वतंत्र विदेश नीति का आरंभ हुआ। किंतु नीति की यह स्वतंत्रता ऊपर से देखने भर को थी, इसे वास्तविक विदेश नीति नहीं कहा जा सकता।

तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय स्थिति
यह वह काल था जो कि ब्रिटिश सरकार के हिसाब से अनुकूल था व इस समय नौसैनिक ताकत में ब्रिटेन श्रेष्ठ स्थिति में था। इस समय भारत की विदेश नीति के निर्माण में रूप व चीन के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटेन की सर्वोच्चता
भारत को जीतने के प्रयास में ब्रिटेन हालैण्ड व पुर्तगाल को पहले ही हरा चुका था। हालांकि फ्रांसीसी लगातार ब्रिटेन के लिये चुनौती उत्पन्न कर रहे थे। नेपोलियन के सत्ता में रहने के दौरान अंग्रेजों को फ्रांसीसी शक्ति से बराबर खतरा बना रहा। 1788 ई0 में मिश्र में नेपोलियन की तथा भारत में टीपू की पराजय के साथ ही अंग्रेजों के लिये दक्षिण भारत में फ्रांसीसी चुनौती समाप्त हो गयी। हालांकि भारत पर फ्रांसीसी आक्रमण का भय बराबर बना हुआ था।
इस भय को समाप्त करने के लिये तत्कालीन वायसराटा लार्ड मिंटो ने बाध्य होकर चार राजनीतिक आयोग भेजे, इनके अंर्तगत मैलकॉम को तेहरान, एलफिंस्टन को काबुल, सीटन को सिंध, और चार्ल्स मेटकॉफ को लाहौर भेजा गया। इन राजनीतिक मिशनों के माध्यम से इन राज्यों के साथ ब्रिटिश सरकार ने मैत्रीपूर्ण संधियां संपन्न की जिससे इसे फ्रांस का खतरा कम करने में सफलता मिली।

चीन का पतन
चीन के साथ भारत के ऐतिहासिक व्यापारिक व सांस्कृतिक संबंध थे। हालांकि हिमालय की स्थिति के कारण भारत पर चीन के प्रत्यक्ष आक्रमण का भय नहीं था। 18वीं सदी में चीने ने तिब्बत तथा एशिया के पूर्वी भागों पर अपनी प्रश्रुता स्थापित कर ली थी परंतु भारत पर इसका प्रभाव नहीं पड़ा।

रूस के खतरे की आशंका
19वीं सदी के मध्य में ब्रिटेन के विदेश सचिव लार्ड पार्मस्टन ने सर्वप्रथम रूस से खतरे का अनुमान लगाया था लेकिन प्रथम बार बौटिक के समय इसको गंभीरता से लिया गया था। रूस भारत के पड़ोसी राज्यों व मध्य एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने को कटिबध्द था। इसे ब्रिटिश हितों के लियेखतरा समझा गया।

अफगानिस्तान
अंग्रेज अफगानिस्तान को बचाना चाहते थे क्योंकि वह उनका व्यापार का केन्द्र होने के साथ उनके लिये मध्य एशिया का एकमात्र प्रवेशद्वार भी था। रूस ने हेरात पर कब्जा कर लिया था तथा काबुल का अमीर भी अंग्रेजों के प्रति विरोधी मत रखता था। इन्ही कारणों से प्रथम अफान युद्ध (1838–42) हुआ जो कि अंग्रेजों के लिये अनर्थकारी था। इस युद्ध का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि 1843 ई0 में सिन्ध और 1849 ई0 में पंजाब अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत की सीमाएं मिल गयीं।
क्रीमियन युद्ध के तुरंत बाद रूस मध्य एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने लगा। रूस का कहना था कि उसने मध्य एशिया में अपनी सैन्य शक्ति इसलिये मजबूत की ताकि वह भारत में हस्तक्षेप दूर दिखाकर इंग्लैण्ड को काबू में रख सके।
ब्रिटिश सरकार ने यह तय किया कि बढ़ते रूसी प्रभाव का सामना सीमांत पर ही किया जाये क्योंकि आगे बढ़कर अफगानिस्तान पर नियंत्रण करना सही नहीं होगा। यह नीति 1863–75 की अवधि में अपनायी गयी। इसके विपरीत अंग्रेजी नीति के समर्थक चाहते थे कि अंग्रेजों को आगे बढ़कर रूसी आक्रमण का सामना करना चाहिए ताकि भारत की असंतुष्ट जनता जनता पर इसका प्रभाव न पड़ें।

द्वितीय अफगान युद्ध
तत्कालीन परिस्थितियों ने भारत में ब्रिटिश सरकार को द्वितीय

अफगान युद्ध के लिये बाध्य कर दिया। इस युद्ध के परिणाम पहले अफगान युद्ध के परिणामों से बहुत भिन्न नहीं थे। हिन्दुकुश के दूसरी तरफ रूस बेरोकटोक बढ़ा चला आ रहा था। एक वर्ष पश्चात अंग्रेजों ने पंजाब पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और 1873 में पामीर के पठार पर भी नियंत्रण कर लिया।

उत्तर पश्चिमी सीमांत नीति

सिंध और पंजाब के अधिग्रहण से अंग्रेज सीधे पहाड़ी कबीलों के संपर्क में आ गये। इसके उत्तरी भाग में पठान रहते थे जिसका प्रशासन पंजाब के द्वारा होता था। जबकि इसके पश्चिमी भाग में बलूच लोग रहते थे और जो सिंध सीमांत कहलाता था वो बंबई के अंर्तगत आता था। किन्तु पहाड़ी कबीले एक प्रकार से स्वतंत्र थे। वे नाममात्र के लिये काबुल के अमीर के अधीन थे।

चूंकि उत्तर पश्चिमी सीमांत दो भिन्न प्रांतीय सरकारों सिन्ध व बंबई के अधीन था अतः सीमांत का प्रशासन व कबीलों के साथ संबंध बनाने के भी दो भिन्न तरीके विकसित हुये। सिन्ध के अंर्तगत आने वाले प्रदेशों में बंद सीमांत व्यवस्था को अपनाया गया। इसके अंर्तगत सीमांत पर पहरा होता था। तथा कोई भी काबायली बिना पास के ब्रिटिश सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता। पंजाब सीमांत पर खुली सीमांत व्यवस्था थी। दर्रो की सुरक्षा के लिये किले बनवाये गये तथा तोपखानों की व्यवस्था की गई। कबीलाईयों को लूटमार से विमुख करने के लिये इन्हे व्यापार करने के लिये प्रोत्साहित किया गया।

डलहौजी की नीति सीमांत पर शांति कायम रखने में बहुत सफल रही। उसने जुर्माना, नासबंदी और अभियान का कुशलतापूर्वक प्रयोग किया शांति स्थापित करने के लिये।

इस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण सुदृढ़ करने के लिये सरकार ने सड़कों व रेल मार्गो का निर्माण किया।

ड्यूरन्ड रेखा (The Durand Line) 1893–

उत्तर पश्चिमी सीमांत पर शांति की स्थापना के लिये लार्ड लैंसडाउन की सिफारिश पर सर मोर्टिमर ड्यूरंड को काबुल के अमीर के पास बातचीत करने के लिये भेजा गया। नवंबर 1893 में काबुल के अमीर व ड्यूरेंड एक समझौते के लिये राजी हुये जिसमें यह तय किया गया कि सीमांत का सर्वेक्षण और सीमांकन करने के लिये एक आयोग बनाया जाये।

नयी सीमा का निर्धारण करने में दो साल का वक्त लग गया तथा इस सीमा को ड्यूरन्ड रेखा का नाम दिया गया। एक बार इस रेखा के बन जाने पर सीमा के दोनों ओर के प्रदेशों का भी बंटवारा हो गया।

ड्यूरन्ड समझौते के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को वाजिरी, अफरीदी, और बाजोरी कबीलों को शासित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस समझौते के परिणामस्वरूप कबीलाइयों ने अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह शुरू कर दिया। इन विद्रोहों का दमन करने के लिये अंग्रेजों ने मशस्त्र टअुकड़ियां इन इलाकों में भेजी। 1899 ई0 में कर्जन जब भारत का बायसराय बना, वह इस इलाके से तथा यहां के लोगों से भली प्रकार परिचित था। उसने वहां से सैन्य टुकड़ियों को हटा लिया तथा इनके स्थान पर कबीलाई लोगों को भर्ती किया। इसके दो लाभ थे– एक तो भारत में ब्रिटिश सरकार को कबीलाईयों का विश्वास प्राप्त हुआ जिससे कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी बंट जाती, दूसरी यह व्यवस्था कम खर्चीली थी। कर्जन ने 26 अप्रैल 1902 को लाहौर में एक दरबार भी लगाया ताकि सीमांत कबीलों के मुखियाओं के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित किये जा सकें।

इतना ही नहीं कुशल प्रशासन तथा नियंत्रण के लिये कर्जन ने एक नये प्रांत का निर्माण किया जिसे उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत (Nort Western frontier provine) कहा जाता था। इस प्रकार कर्जन सीमांत क्षेत्र में दीर्घ समय तक शांति स्थापित करने में सफल हुआ।

ईरान तथा ईरान की खाड़ी

ईरान अंग्रेजों के लिये सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि भारत पहुंचने के भूमि एवं समुद्री मार्ग इसी क्षेत्र में पड़ते थे। इस मार्ग पर पहले उन्होने फ्रांसीसी सेनाओं तथा बाद में रूसियों को रोका। ईरान द्वारा हेरात पर कब्जा करने के प्रयास को भी अंग्रेजों ने विफल कर दिया। द्वितीय अफगान युद्ध के बाद 1907 की संधि के परिणामस्वरूप ईरान ब्रिटिश क्षेत्र व रूसी क्षेत्र में बंट गया।

1921 में रजा खान के सैनिक विद्रोह के बाद ईरान फिर से स्वतंत्र हो गया। अपने आपको बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप से बचान के लिये ईरान ने अपने पड़ोसी देशों तुर्की, ईराक तथा अफगानिस्तान के साथ एक समझौता किया जो कि पूर्वी समझौता (Eastern Pact) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समुद्री मार्ग पर, विशेषकर ईरान की खाड़ी में सामरिक महत्व के समुद्री एवं समुद्ध तटीय स्थानों पर कब्जा करके अंग्रेजों ने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। कई क्षेत्र या तो ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिये गये था संधियों द्वारा इससे संबद्ध कर दिये गये इन स्थानों में प्रमुख थे। मारीशस, जंजीबार, मस्कट, बहतरीन, कुबैल, ओमान इत्यादि।

लार्ड लैंसडाउन भारत का पहला वायसराटा था जिसने ईरान की खाड़ी का दौरा किया। इसके 10 वर्ष पश्चात 1903 ई0 में कर्जन ने खाड़ी देशों के शेखों को अपने जहाज पर एकत्रित किया तथा इस क्षेत्र पर ब्रिटिश प्रभुता की घोषणा कर इस नीति के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने ओमान और कुवैत जैसे समुद्रतटीय देशों को यह वचन देने के लिये बाध्य किया कि वे फ्रांस एवं जर्मनी जैसे अंग्रेजों के यूरोपीय प्रतिर्द्वदियों को कोई सुविधा प्रदान नहीं करेंगे। स्वेज नहर के खुल जाने के बाद यह मार्ग ब्रिटिश व्यापार के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

जब इस क्षेत्र में खनिज तेल निकला तो सबसे पहले अंग्रेजों ने ही तेल उद्योग व व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित किया।

तिब्बत

तिब्बत को तपस्वी का देश (Hermit Kingdom) भी कहा जाता है। यह चारों तरफ से ऊंची ऊंची पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा हुआ है। विदेशी खतरों से बचने के लिये तिब्बत ने चीनी नियंत्रण में रहना स्वीकार किया, परंतु यह नियंत्रण नाममात्र का ही था। 19 वी सदी में इस नियंत्रण की कोई व्यवहारिक मान्य नहीं रह गयी।

तिब्बत में अंग्रेजों की रूचि केवल व्यापारिक ही थी। वारेन हेस्टिंग्स ने इस क्षेत्र में काफी व्यापारिक रूचि दिखाई तथा दो व्यापारिक शिष्टमण्डल भेजे एक 1774 ई0 में तथा दूसरा 1783 ई0 में। किन्तु तिब्बत का शासक दलाई लामा अलगाववादी तथा संशयी प्रकृति का था। उसने ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। परंतु ब्रिटिश सरकार की रूचि तिब्बत में धीरे–धीरे बढ़ती गई, क्योंकि नेपाल, भूटान, सिक्किम पर अंग्रेजों का आधिपत्य होने के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा तिब्बत की सीमा के साथ लगने लगी थी। इसके साथ ही साथ रूसी की सेनाएं पामीर तक जा पहुंची थी अतः उत्तर की ओर भारत की सुरक्षा के लिये खतरा पैदा हो गया। जब कर्लन भारत का वायसराय था तभी यह सूचना मिली कि अग्वार दोरदशी नामक एक मंगोल व्यक्ति जोकि दलाई लामा का कृपा पात्र था का ल्हासा व पीटर्सवर्ग के बीच बहुत अधिक आना जाना है। रूसी प्रभाव के बढ़ने की अंदेशा में लार्ड कर्जन ने तिब्बत को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन आने का संकल्प कर लिया।

कर्जन ने कर्मल फ्रांसिस यंगहस्बैंड को तिब्बत भेजा, वह 1904 में ल्हासा पहुंचा। 700 तिब्टियों को मौत के घाट उतारने के बाद उसने दलार्ड लामा को एक संधि स्वीकार करने पर बाध्य कर

दिया। इसके अनुसार तिब्बत ब्रिटिश साम्राज्य का एक संरक्षित राज्य बनकर रह गया तथा अंग्रेजों को तिब्बत में व्यापार करने के लिये कुछ सुविधाएं दी गयी।

नेपाल

गोरखाओं ने 1768 में काठमांडू की घाटी पर अधिकार कर लिया था और धीरे– धीरे वे अपने पूर्वी एवं पश्चिमी भागों को हड़पते चले गये। यहां तक कि कुमाऊं, मढ़वाल तथा शिमला की पहाड़ियों पर भी उन्होने अधिकार जमा लिया।

1816 ई0 में आंग्ल–नेपाल युद्ध के पश्चात हुयी सुगौली की संधि के अनुसार थे क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हो गये। अंग्रेजों ने नेपाल के शासक को प्रभुसत्ता संपन्न शासक का दर्जा दिया। ब्रिटिशों के लिये नेपाल भारत, तिब्बत और चीन के मध्यवर्ती राज्य का काम करता था। नेपाल ने भी ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध किसी विदेशी शक्ति का साथ नहीं दिया।

सिक्किम

तिब्बत पर चीनी प्रभुत्व स्थापित हो जाने से पूर्व सिक्किम राजनीतिक व सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था क्योंकि यहां से होकर तिब्बत का मार्ग जाता था। यहां एक स्थानीय कुलीन वंश का शासन था। सिक्किम एक स्वतंत्र राज्य था, 18 वीं सदी के अंत तक गोरखाओं ने सिक्किम पर अस्थायी नियंत्रण स्थापित कर लिया किन्तु अंग्रेजों ने सिक्किम की स्वंतत्रता को बहाल किया तथा 1861 ई0 इसे ब्रिटिश संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। 1890 ई0 में चीन ने सिक्किम पर ब्रिटिश अधिकार को मान्यता दे दी।

भूटान

सिक्किम के पूर्वी भाग से लगा हुआ राज्य था भूटान। भूटान के लोगों ने कूचबिहार के राजा का अपहरण कर लिया। कूचबिहार अंग्रेजों के संरक्षण में था इसलिये वारेन हेस्टिंग्स ने भूटान पर चढ़ाई कर दी तथा भूटान को ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बना लिया।

तिब्बत के अभियान में भूटान ने ब्रिटिश सेना का साथ दिया था। अंततः सर चार्ल्सबेल के प्रयत्नों से पुनाखा में एक मित्रता संधि हुई व अंग्रेजों ने भूटान को संप्रभुता सम्पन्न राज्य मान लिया किन्तु इसकी विदेश नीति अंग्रेजों के नियंत्रण में रही।

पूर्व में भारत का पड़ोसी देश था बर्मा 118 वीं सदी के अंत व 19 वीं सदी के आरंभ में बर्मा साम्राज्य का निरंतर विस्तार होता रहा। चीनच के अधिपत्य से मुक्त होकर बर्मा का साम्राज्य अपना विस्तार करने में बास्त था। अपनी इस विस्तारवादी नीति के कारण बर्मा ने ब्रिटिश भारत की सुरक्षा के लिये चुनौती उत्पन्न कर दी। अंततः बाक्ष्य होकर ब्रिटिश सेना ने तीन बार युद्ध करके बर्मा को पराजित किया।

पहला युद्ध 1824–26 में, दूसरा 1852 ई0 में तथा अंतिम 1885 ई0 में हुआ। इन युद्धों के परिणामस्वरूप पूरे बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

निष्कर्ष

ब्रिटिश भारत की विदेश नीति मुख्य रूप से इस तथ्य पर आधारित थी कि एशिया में रूस और चीन दो शक्तियां थी और उस समय भारत की राजनीतिक गतिविधियों के निर्धारण में इन दोनों का महत्वपूर्ण हाथ था। इस समय चीन की स्थिति पतनोन्मुख थी जबकि रूस मध्य एशिया में शक्ति का विस्तार कर रहा था। इस दौरान ब्रिटिश भारत की विदेश नीति के निर्धारण में रूसी खतरे की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही।

इसके अलावा भारत की भौगोलिक स्थिति ने भी भारत की विदेश नीति के निर्धारण में अपना योगदान दिया। भारत के सीमा पर स्थित छोटी–छोटी रियासतों व सीमांत पर बसे लड़ाकू कबीलों ने समय–समय पर अशांति उत्पन्न की इस कारण भारत के उत्तरी पश्चिम एवं उत्तर पूर्वी सीमांत की एक सुदृढ़ रक्षापंक्ति नहीं बन पाया।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी सरकार ने यह ध्यान में रखा कि भारत पर कोई विदेशी आक्रमण न होने पाये और यह उनके लिये सबसे अधिक चिंता का बिन्दु बना रहा।

सारांश में भारत में अंग्रेजों की विदेश नीति का एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वव्यापी हितों की रक्षा करना था।

संदर्भ सूची

1. भारत का वृहत इतिहास (भाग–3) पृष्ठ 98 से 133, मजूमदार, रायचौधरी, दत्त मैकमिलन पब्लिसर्स इंडिया लिमिटेड ISBN – 033–392–408–8
2. आधुनिक भारत का इतिहास पृष्ठ 129 से 130, बी. एल. ग्रोवर, अलका मेहता, यशपाल एस0चन्द्र पब्लिसर्स ISBN 938–485–764–5
3. आधुनिक भारत का इतिहास पृष्ठ 537 से 538 राजीव अहीर स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा0लि0 ISBN 81–7930–722–0